

KUSHMANDA EDUCATION SERVICES PVT. LTD.

B-892, SUSHANT CITY, ANSAL, PANIPAT, HARYANA

www.kushmanda.com, Helpline- 08607570992, 09728926678

कबीर के दोहे

मान बढ़ाई देखि कर, भक्ति करै संसार।

जब देखें कछु हीनता, अवगुन धरै गंवार।।

संत कबीरदास जी कहते हैं कि दूसरों की देखादेखी कुछ लोग सम्मान पाने के लिये परमात्मा की भक्ति करने लगते हैं पर जब वह नहीं मिलता वह मूर्खों की तरह इस संसार में ही दोष निकालने लगते हैं।

कुल करनी के कारनै, हंसा गया बिगोय।

तब कुल काको लाजि, चारि पांव का होय॥

संत शिरोमणि कबीरदास जी कहते हैं कि अपने परिवार की मर्यादा के लिये आदमी ने अपने आपको बिगाड़ लिया वरना वह तो हंस था। उस कुल की मर्यादा का तब क्या होगा जब परमार्थ और सत्संग के बिना जब भविष्य में उसे पशु बनना पड़ेगा।

दुनिया के धोखे मुआ, चल कुटुंब की कानि।

तब कुल की क्या लाज है, जब ले धरा पसानि॥

कबीरदास जी कहते हैं यह दुनियां एक धोखा है जिसमें आदमी केवल अपने परिवार के पालन पोषण के लिये हर समय जुटा रहता है। वह इस बात का विचार नहीं करता कि जब उसका शरीर निर्जीव होकर इस धरती पर पड़ा रहेगा तब उसके कुल शान का क्या होगा?

कहै हिन्दु मोहि राम पिआरा, तुरक कहे रहिमाना।

आपस में दोऊ लरि-लरि मुए, मरम न कोऊ जाना।।

एक तरफ भारतीय हैं जो कहते हैं कि हमें राम प्यारा है दूसरी तरफ तुर्क हैं जो कहते हैं कि हम तो रहीम के बंदे हैं। दोनों आपस में लड़कर एक दूसरे को तबाह कर देते हैं पर धर्म का मर्म नहीं जानते.

गगन दमामा बाजिया, पड़्या निसानें घाव ।
खेत बुहार्या सूरिमै, मुझ मरणे का चाव ॥1॥

भावार्थ – गगन में युद्ध के नगाड़े बज उठे, और निशान पर चोट पड़ने लगी । शूरवीर ने रणक्षेत्र को झाड़-बुहारकर तैयार कर दिया, तब कहता है कि 'अब मुझे कट-मरणे का उत्साह चढ़ रहा है ।'

'कबीर' सोई सूरिमा, मन सूं मांडै झूझ ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥2॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – सच्चा सूरमा वह है, जो अपने वैरी मन से युद्ध ठान लेता है, पाँचों पयादों को जो मार भगाता है, और द्वाँत को दूर कर देता है । [पाँच पयादे, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर। द्वाँत अर्थात् जीव और ब्रह्म के बीच भेद-भावना ।]

'कबीर' संसा कोउ नहीं, हरि सूं लागगा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणा, चौडै मांड्या खेत ॥3॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – मेरे मन में कुछ भी संशय नहीं रहा, और हरि से लगन जुड़ गई । इसीलिए चौड़े में आकर काम और क्रोध से जूझ रहा हूँ रण-क्षेत्र में ।

सूरा तबही परषिये, लडै धणी के हेत ।
पुरिजा-पुरिजा हवै पडै, तऊ न छांडै खेत ॥4॥

भावार्थ – शूरवीर की तभी सच्ची परख होती है, जब वह अपने स्वामी के लिए जूझता है । पुर्जा-पुर्जा कट जाने पर भी वह युद्ध के क्षेत्र को नहीं छोड़ता ।

अब तौ झूझ्या हीं बणै, मुड़ि चाल्यां घर दूर ।
सिर साहिब कौं सौंपतां, सोच न कीजै सूर ॥5॥

भावार्थ – अब तो झूझते बनेगा, पीछे पैर क्या रखना ? अगर यहाँ से मुड़ोगे तो घर तो बहुत दूर रह गया है । साईं को सिर सौंपते हुए सूरमा कभी सोचतानहीं, कभी हिचकता नहीं ।

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहूं, कब देखिहूं पूरन परमानंद ॥6॥

भावार्थ – जिस मरण से दुनिया डरती है, उससे मुझे तो आनन्द होता है, कब मरूँगा और कब देखूँगा मैं अपने पूर्ण सच्चिदानन्द को !

कायर बहुत पमांवहीं, बहकि न बोलै सूर ।
काम पड्यां हीं जाणिये, किस मुख परि है नूर ॥7॥

भावार्थ – बड़ी-बड़ी डींगे कायर ही हाँका करते हैं, शूरवीर कभी बहकते नहीं । यह तो काम आने पर ही जाना जा सकता है कि शूरवीरता का नूर किस चेहरे पर प्रकट होता है ।

‘कबीर’ यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारे हाथि धरि, सो पैसे घर माहिं ॥8॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – यह प्रेम का घर है, किसी खाला का नहीं, वही इसके अन्दर पैर रख सकता है, जो अपना सिर उतारकर हाथ पर रखले । [सीस अर्थात् अहंकार । पाठान्तर है ‘भुड़ धरै’ । यह पाठ कुछ अधिक सार्थक जचता है । सिर को उतारकर जमीन पर रख देना, यह हाथ पर रख देने से कहीं अधिक शूर-वीरता और निरहंकारिता को व्यक्त करता है ।]

‘कबीर’ निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकट प्रेम का स्वाद ॥9॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – अपना खुद का घर तो इस जीवात्मा का प्रेम ही है । मगर वहाँ तक पहुँचने का रास्ता बड़ा विकट है, और लम्बा इतना कि उसका कहीं छोर ही नहीं मिल रहा । प्रेम रस का स्वाद तभी सुगम हो सकता है, जब कि अपने सिर को उतारकर उसे पैरों के नीचे रख दिया जाय ।

प्रेम न खेतों नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥10॥

भावार्थ – अरे भाई ! प्रेम खेतों में नहीं उपजता, और न हाट-बाजार में बिका करता है यह महँगा है और सस्ता भी – यों कि राजा हो या प्रजा, कोई भी उसे सिर देकर खरीद ले जा सकता है ।

‘कबीर’ घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार ।
ग्यान खड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥11॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – क्या ही मार-धाड़ मचा दी है इस चेतन शूरवीर ने । सवार हो गया है प्रेम के घोड़े पर । तलवार ज्ञान की ले ली है, और काल-जैसे शत्रु के सिर पर वह चोट-पर-चोट कर रहा है ।

जेते तारे रैणि के, तेतै बैरी मुझ ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ॥12॥

भावार्थ – मेरे अगर उतने भी शत्रु हो जायं, जितने कि रात में तारे दीखते हैं, तब भी मेरा धड़ सूली पर होगा और सिर रखा होगा गढ़ के कंगूरे पर, फिर भी मैं तुझे भूलने का नहीं ।

सिरसाटें हरि सेविये, छांड़ि जीव की बाणि ।
जे सिर दीया हरि मिलै, तब लगि हाणि न जाणि ॥13॥

भावार्थ – सिर सौंपकर ही हरि की सेवा करनी चाहिए । जीव के स्वभाव को बीच में नहीं आना चाहिए । सिर देने पर यदि हरि से मिलन होता है, तो यह न समझा जाय कि वह कोई घाटे का सौदा है ।

‘कबीर’ हरि सबक् भजै, हरि कूं भजै न कोइ ।
जबलग आस सरिर की, तबलग दास न होइ ॥14॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं -हरि तो सबका ध्यान रखता है,सबका स्मरण करता है , पर उसका ध्यान-स्मरण कोई नहीं करता । प्रभु का भक्त तबतक कोई हो नहीं सकता, जबतक देह के प्रति आशा और आसक्ति है ।

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुख अपार ।
मनसा बाचा क्रमनां, 'कबीर' सुमिरण सार ॥1॥

भावार्थ – हरि का नाम-स्मरण ही भक्ति है और वही भजन सच्चा है ; भक्ति के नाम पर सारी साधनाएं केवल दिखावा है, और अपार दुःख की हेतु भी । पर स्मरण वह होना चाहिए मन से, बचन से और कर्म से, और यही नाम-स्मरण का सार है !

'कबीर' कहता जात हूँ, सुणता है सब कोई ।
राम करें भल होइगा, नहिंतर भला न होई ॥2॥

भावार्थ – मैं हमेशा कहता हूँ, रट लगाये रहता हूँ, सब लोग सुनते भी रहते हैं – यही कि राम का स्मरण करने से ही भला होगा, नहीं तो कभी भला होनेवाला नहीं । पर राम का स्मरण ऐसा कि वह रोम-रोम में रम जाय ।

तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखीं तित तू ॥3॥

भावार्थ – तू ही है, तू ही है' यह करते-करते मैं तू ही हो गयी, हूँ मुझमें कहीं भी नहीं रह गयी । उसपर न्यौछावर होते-होते मैं समर्पित हो गयी हूँ । जिधर भी नजर जाती है उधर तू-ही-तू दीख रहा है ।

'कबीर' सूता क्या करै, काहे न देखै जागि ।
जाको संग तैं बीछुड्या, ताही के संग लागि ॥4॥

भावार्थ – कबीर अपने आपको चेता रहे हैं, अच्छा हो कि दूसरे भी चेत जायं । अरे, सोया हुआ तू क्या कर रहा है ? जाग जा और अपने साथियों को देख, जो जाग गये हैं । यात्रा लम्बी है, जिनका साथ बिछड़ गया है और तू पिछड़ गया है, उनके साथ तू फिर लग जा ।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम-रस, फुनि रसना नहीं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि खये बेकाम ॥5॥

भावार्थ – जिस घट में, जिसके अन्तर में न तो प्रीति है और न प्रेम का रस । और जिसकी रसना पर रामनाम भी नहीं – इस दुनिया में बेकार ही पैदा हुआ वह और बरबाद हो गया ।

'कबीर' प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥6॥

भावार्थ – कबीर धिक्कारते हुए कहते हैं – जिसने प्रेम का रस नहीं चखा, और चखकर उसका स्वाद नहीं लिया, उसे क्या कहा जाय ? वह तो सूने घर का मेहमान है, जैसे आया था वैसे ही चला गया !

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
बेस्वयां केरा पूत ज्युँ, कहै कौन सू बाप ॥7॥

भावार्थ – प्रियतम राम को छोड़कर जो दूसरे देवी-देवताओं को जपता है, उनकी आराधना करता है, उसे क्या कहा जाय ? वेश्या का पुत्र किसे अपना बाप कहे ? अनन्यता के बिना कोई गति नहीं ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम-नाम है लूटि ।
पीछै हो पछिताहुगे, यह तन जैहै छूटि ॥8॥

भावार्थ – अगर लूट सको तो लूट लो, जी भर लूटो-यह राम नाम की लूट है । न लूटोगे तो बुरी तरह पछताओगे, क्योंकि तब यह तन छूट जायगा ।

लंबा मारग, दूरि घर, विकट पंथ, बहु मार ।
कहौ संतो, क्युं पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥ 9॥

भावार्थ – रास्ता लम्बा है, और वह घर दूर है, जहाँ कि पहुँचना है । लम्बा ही नहीं, उबड़-खाबड़ भी है । कितने ही बटमार वहाँ पीछे लग जाते हैं । संत भाइयों, बताओ तो कि हरि का वह दुर्लभ दीदार तब कैसे मिल सकता है ?

‘कबीर’ राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्युँ जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥10॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं- अमृत-जैसे गुणों को गाकर तू अपने राम को रिझा ले । राम से तेरा मन-बिछुड़ गया है, उससे वैसे ही मिल जा, जैसे कोई फूटा हुआ नग सन्धि-से-सन्धि मिलाकर एक कर लिया जाता है ।

निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह ।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥1॥

भावार्थ – कोई पूछ बैठे तो सन्तों के लक्षण ये हैं- किसी से भी बैर नहीं, कोई कामना नहीं, एक प्रभु से ही पूरा प्रेम । और विषय-वासनाओं में निर्लेपता ।

संत न छांड़ै संतई, जे कोटिक मिलें असंत ।
चंदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥2॥

भावार्थ – करोड़ों ही असन्त आजायं, तोभी सन्त अपना सन्तपना नहीं छोड़ता । चन्दन के वृक्ष पर कितने ही साँप आ बैठें, तोभी वह शीतलता को नहीं छोड़ता ।

गांठी दाम न बांधई, नहिं नारी सों नेह ।
कह ‘कबीर’ ता साध की, हम चरनन की खेह ॥3॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं कि हम ऐसे साधु के पैरों की धूल बन जाना चाहते हैं, जो गाँठ में एक कौड़ी भी नहीं रखता और नारी से जिसका प्रेम नहीं ।

सिंहों के लेहँड़ नहीं, हंसों की नहीं पाँत ।
लालों की नहि बोरियाँ, साध न चलें जमात ॥4॥

भावार्थ – सिंहों के झुण्ड नहीं हुआ करते और न हंसों की कतारें । लाल-रत्न बोरियों में नहीं भरे जाते, और जमात को साथ लेकर साधु नहीं चला करते ।

जाति न पूछौ साध की, पूछ लीजिए ग्यान ।
मोल करौ तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥5॥

भावार्थ – क्या पूछते हो कि साधु किस जाति का है? पूछना हो तो उससे जानकी बात पूछो तलवार खरीदनी है, तो उसकी धार पर चढ़े पानी को देखो, उसके म्यान को फेंक दो, भले ही वह बहुमूल्य हो ।

‘कबीर’ हरि का भावता, झीणां पंजर तास ।
रैणि न आवै नीदड़ी, अंगि न चढ़ई मांस ॥6॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – हरि के प्यारे का शरीर तो देखो-पंजर ही रह गया है बाकी । सारी ही रात उसे नींद नहीं आती, और अंग पर मांस नहीं चढ़ रहा ।

राम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हे कोइ ।
तंबोली के पान ज्युं, दिन-दिन पीला होइ ॥7॥

भावार्थ – पूछते हो कि राम का वियोग होता कैसा है? विरह में वह व्यथित रहता है, देखकर कोई पहचान नहीं पाता कि वह कौन है? तंबोली के पान की तरह, बिना सींचे, दिन-दिन वह पीला पड़ता जाता है ।

काम मिलावे राम कू, जे कोई जाणै राखि ।
‘कबीर’ बिचारा क्या कहै, जाकी सुखदेव बोलै साखि ॥8॥

भावार्थ – हाँ, राम से काम भी मिला सकता है – ऐसा काम, जिसे कि नियंत्रण में रखा जाय। यह बात बेचारा कबीर ही नहीं कह रहा है, शुकदेव मुनि भी साक्षी भर रहे हैं । [आशय धर्म से अविरोध काम से है, अर्थात् भोग के प्रति अनासक्ति और उसपर नियंत्रण]

जिहिं हिरदे हरि आइया, सो क्युं छानां होइ ।
जतन-जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥9॥

भावार्थ – जिसके अन्तर में हरि आ बसा, उसके प्रेम को कैसे छिपाया जा सकता है? दीपक को जतन कर-कर कितना ही छिपाओ, तब भी उसका उजला तो प्रकट हो ही जायगा। [रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में चिमनी के अन्दर से फानुस का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता ।]

फाटै दीदै में फिरौं, नजरि न आवै कोइ ।
जिहि घटि मेरा साँईयाँ, सो क्युं छाना होइ ॥10॥

भावार्थ – कबसे मैं आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा हूँ कि ऐसा कोई मिल जाय, जिसे मेरे साईं का दीदार हुआ हो । वह किसी भी तरह छिपा नहीं रह जायगा, नजर पर चढ़े तो !

पावकरूपी राम है, घटि-घटि रहया समाइ ।
चित चकमक लागे नहीं, ताथै धूवाँ हवै-हवै जाइ ॥11॥

भावार्थ – मेरा राम तो आग के सदृश है, जो घट-घट में समा रहा है । वह प्रकट तभी होगा, जब कि चित्त उसपर केन्द्रित हो जायगा । चकमक पत्थर की रगड़ बैठ नहीं रही, इससे केवल धुँवा उठ रहा है । तो आग अब कैसे प्रकटे ?

‘कबीर’ खालिक जागिया, और न जागै कोइ ।
कै जगै बिषई विष-भर्या, कै दास बंदगी होइ ॥12॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – जाग रहा है, तो मेरा वह खालिक ही, दुनिया तो गहरी नींद में सो रही है, कोई भी नहीं जाग रहा । हाँ, ये दो ही जागते हैं – या तो विषय के जहर में डूबा हुआ कोई, या फिर साईं का बन्दा, जिसकी सारी रात बंदगी करते- करते बीत जाती है ।

पुरपाटण सुवस बसा, आनन्द ठायें ठांड ।
राम-सनेही बाहिरा, उलजंड मेरे भाइ ॥13॥

भावार्थ – मेरी समझ में वे पुर और वे नगर वीरान ही हैं, जिनमें राम के स्नेही नहीं बस रहे, यद्यपि उनको बड़े सुन्दर ढंग से बनाया और बसाया गया है और जगह-जगह जहाँ आनन्द-उत्सव हो रहे हैं ।

जिहिं घरि साध न पूजि, हरि की सेवा नाहिं ।
ते घर मड़हट सारंषे, भूत बसै तिन माहिं ॥14॥

भावार्थ – जिस घर में साधु की पूजा नहीं, और हरि की सेवा नहीं होती, वह घर तो मरघट है, उसमें भूत-ही-भूत रहते हैं ।

हैवर गैवर सघन धन, छत्रपति की नारि ।
तास पटंतर ना तूलै, हरिजन की पनिहारि ॥15॥

भावार्थ – हरि-भक्त की पनिहारिन की बराबरी छत्रधारी की रानी भी नहीं कर सकती । ऐसे राजा की रानी, जो अच्छे-से-अच्छे घोड़ों और हाथियों का स्वामी है, और जिसका खजाना अपार धन-सम्पदा से भरा पड़ा है ।

क्यूं नृप-नारी नींदिये, क्यूं पनिहारी कौं मान ।
वा मांग संवारे पीव कौं, या नित उठि सुमिरै राम ॥26॥

भावार्थ – रानी को यह नीचा स्थान क्यों दिया गया, और पनिहारिन को इतना ऊँचा स्थान ? इसलिए कि रानी तो अपने राजा को रिझाने के लिए मांग सँवारती है, सिंगार करती है और वह पनिहारिन नित्य उठकर अपने राम का सुमिरन ।

‘कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास ।
जिहिं कुल दास न उपजै, सो कुल आक-पलास ॥27॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं—कुल तो वही श्रेष्ठ है, जिसमें हरि-भक्त जन्म लेता है । जिस कुल में हरि-भक्त नहीं जनमता, वह कुल आक और पलास के समान व्यर्थ है ।

जेता मीठा बोलणा, तेता साध न जाणि ।
पहली थाह दिखाइ करि, उंडै देसी आणि ॥1॥

भावार्थ – उनको वैसा साधु न समझो, जैसा और जितना वे मीठा बोलते हैं । पहले तो नदी की थाह बता देते हैं कि कितनी और कहाँ है, पर अन्त में वे गहरे में डुबो देते हैं । [सो मीठी-मीठी बातों में न आकर अपने स्वयं के विवेक से काम लिया जाये ।]

उज्ज्वल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान ।
धौरे बैठि चपेटसी, यूं ले बूडै ग्यान ॥2॥

भावार्थ – ऊपर-ऊपर की उज्ज्वलता को देखकर न भूल जाओ, उस पर विश्वास न करो । उज्ज्वल पंखों वाला बगुला ध्यान लगाये बैठा है, कोई भी जीव-जन्तु पास गया, तो उसकी चपेट से छूटने का नहीं । [दम्भी का दिया ज्ञान भी मंझधार में डुबो देगा ।]

‘कबीर’ संगत साध की, कदे न निरफल होइ ।
चंदन होसी बांवना, नीब न कहसी कोइ ॥3॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – साधु की संगति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती, उससे सुफल मिलता ही है । चन्दन का वृक्ष बावना अर्थात् छोटा-सा होता है, पर उसे कोई नीम नहीं कहता, यद्यपि वह कहीं अधिक बड़ा होता है ।

‘कबीर’ संगति साध की, बेगि करीजै जाइ ।
दुर्मति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥4॥

भावार्थ – साधु की संगति जल्दी ही करो, भाई, नहीं तो समय निकल जायगा । तुम्हारी दुर्बुद्धि उससे दूर हो जायगी और वह तुम्हें सुबुद्धि का रास्ता पकड़ा देगी ।

मथुरा जाउ भावै द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ ।
साध-संगति हरि-भगति बिन, कछु न आवै हाथ ॥5॥

भावार्थ – तुम मथुरा जाओ, चाहे द्वारिका, चाहे जगन्नाथपुरी, बिना साधु-संगति और हरि-भक्ति के कुछ भी हाथ आने का नहीं ।

मेरे संगी दोइ जणा, एक वैष्णौ एक राम ।
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम ॥6॥

भावार्थ – मेरे तो ये दो ही संगी साथी हैं – एक तो वैष्णव, और दूसरा राम । राम जहाँ मुक्ति का दाता है, वहाँ वैष्णव नाम-स्मरण कराता है । तब और किसी साथी से मुझे क्या लेना-देना ?

‘कबीर’ बन बन में फिरा, कारणि अपणें राम ।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सबरे काम ॥7॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – अपने राम को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक बन में से मैं दूसरे बन में गया, जब वहाँ मुझे स्वयं राम के सरीखे भक्त मिल गए, तो उन्होंने मेरे सारे काम बना दिये । मेरा वन वन का भटकना तभी सफल हुआ ।

जानि बूझि सांचहि तजै, करै झूठ सूं नेहु ।
ताकी संगति रामजी, सुपिनै ही जिनि देहु ॥8॥

भावार्थ – जो मनुष्य जान-बूझकर सत्य को छोड़ देता है, और असत्य से नाता जोड़ लेता है । हे राम! सपने में भी कभी मुझे उसका साथ न देना ।

‘कबीर’ तास मिलाइ, जास हियाली तू बसै ।
नहिंतर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥9॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – मेरे साईं, मुझे तू किसी ऐसे से मिला दे, जिसके हृदय में तू बस रहा हो, नहीं तो दुनिया से मुझे जल्दी ही उठा ले । रोज-रोज की यह पीड़ा कौन सहे ?

लेखा देणां सोहरा, जे दिल सांचा होइ ।
उस चंगे दीवान में, पला न पकड़ै कोइ ॥1॥

भावार्थ – दिल तेरा अगर सच्चा है, तो लेना-देना सारा आसान हो जायगा । उलझन तो झूठे हिसाब-किताब में आ पड़ती है, जब साईं के दरबार में पहुँचेगा, तो वहाँ कोई तेरा पल्ला नहीं पकड़ेगा, क्योंकि सब कुछ तेरा साफ-ही-साफ होगा ।

साँच कहूं तो मारिहैं, झूठे जग पतियाइ ।
यह जग काली कूकरी, जो छेड़ै तो खाय ॥2॥

भावार्थ – सच-सच कह देता हूँ तो लोग मारने दौड़ेंगे, दुनिया तो झूठ पर ही विश्वास करती है । लगता है, दुनिया जैसे काली कुतिया है, इसे छेड़ दिया, तो यह काट खायेगी ।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज ।
सांचै मारे झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥3॥

भावार्थ – काजी भाई ! तेरी पाँच बार की यह नमाज झूठी बन्दगी है, झूठी पढ़-पढ़कर तुम सत्य का गला घोट रहे हो , और इससे दुनिया की और अपनी भी हानि कर रहे हो ।[क्यों नहीं पाक दिल से सच्ची बन्दगी करते हो ?]

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जिस हिरदे में सांच है, ता हिरदै हरि आप ॥4॥

भावार्थ – सत्य की तुलना में दूसरा कोई तप नहीं, और झूठ के बराबर दूसरा पाप नहीं । जिसके हृदय में सत्य रम गया, वहाँ हरि का वास तो सदा रहेगा ही ।

प्रेम-प्रीति का चोलना, पहिरि कबीरा नाच ।
तन-मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै सांच ॥5॥

भावार्थ – प्रेम और प्रीति का ढीला-ढाला कुर्ता पहनकर कबीर मस्ती में नाच रहा है, और उसपर तन और मन की न्यौछावर कर रहा है, जो दिल से सदा सच ही बोलता है।

काजी मुल्लां भूमियां, चल्या दुर्नी के साथ ।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ ॥6॥

भावार्थ – ये काजी और मुल्ले तभी दीन के रास्ते से भटक गये और दुनियादारों के साथ-साथ चलने लगे, जब कि इन्होंने जिबह करने के लिए हाथ में छुरी पकड़ ली दीन के नाम पर।

साईं सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ ।
जाणैंगा रे जीवणा, मार पड़ेगी तुझ ॥7॥

भावार्थ – वाह ! क्या कहने हैं, साईं से तो तू चोरी और दुराव करता है और दोस्ती कर ली है चोरों के साथ ! जब उस दरबार में तुझ पर मार पड़ेगी, तभी तू असलियत को समझ सकेगा ।

खूब खांड है खीचड़ी, माहि पड्याँ टुक लूण ।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गल कटावे कूण ॥8॥

भावार्थ – क्या ही बढ़िया स्वाद है मेरी इस खिचड़ी का ! जरा-सा, बस, नमक डाल लिया है पेड़े और चुपड़ी रोटियाँ खा-खाकर कौन अपना गला कटाये ?

जिसहि न कोई तिसहि तू, जिस तू तिस ब कोइ ।
दरिगह तेरी साईंयां , ना मरूम कोइ होइ ॥१॥

भावार्थ – जिसका कहीं भी कोई सहारा नहीं, उसका एक तू ही सहारा है । जिसका तू हो गया, उससे सभी नाता जोड़ लेते हैं साईं ! तेरी दरगाह से, जो भी वहाँ पहुँचा, वह मरूम नहीं हुआ , सभी को आश्रय मिला ।

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिखया न जाइ ॥2॥

भावार्थ – समंदरों की स्याही बना लूं और सारे ही वृक्षों की लेखनी, और कागज का काम लूं सारी धरती से, तब भी हरि के अनन्त गुणों को लिखा नहीं जा सकेगा ।

अबरन कौं का बरनिये, मोपै लखया न जाइ ।
अपना बाना वाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥3॥

भावार्थ – उसका क्या वर्णन किया जाय, जो कि वर्णन से बाहर है? मैं उसे कैसे देखूँ वह आँख ही नहीं देखने की । सबने अपना-अपना ही बाना पहनाया उसे, और कह-कहकर थक गया उनका अन्तर ।

झल बावैं झल दाहिनैं, झलहि माहिं व्यौहार ।
आगैं पीछैं झलमई, राखैं सिरजन हार ॥4॥

भावार्थ – झाल(ज्वाला) बाईं ओर जल रही है, और दाहिनी ओर भी, लपटों ने घेर लिया है दुनियाँ के सारे ही व्यवहार को । जहाँ तक नजर जाती है, जलती और उठती हुई लपटें ही दिखाई देती हैं । इस ज्वाला में से एक मेरा सिरजनहार ही निकालकर बचा सकता है ।

साईं मेरा बाणियां, सहजि करै ब्यौपार ।
बिन डांडी बिन पालडैं, तोले सब संसार ॥5॥

भावार्थ – ऐसा बनिया है मेरा स्वामी, जिसका व्यापार सहज ही चल रहा है । उसकी तराजू में न तो डांडी है और न पलड़े फिर भी वह सारे संसार को तौल रहा है, सबको न्याय दे रहा है ।

साईं सूं सब होत है, बंदै थैं कुछ नाहिं ।
राईं थैं परबत कषै, परबत राईं माहिं ॥6॥

भावार्थ – स्वामी ही मेरा समर्थ है, वह सब कुछ कर सकता है उसके इस बन्दे से कुछ भी नहीं होने का । वह राईं से पर्वत कर देता है और उसके इशारे से पर्वत भी राईं में समा जाता है ।

हरिजन सेती रूसणा, संसारी सूँ हेत ।
ते नर कदे न नीपजैं, ज्युं कालर का खेत ॥1॥

भावार्थ – हरिजन से तो रूठना और संसारी लोगों के साथ प्रेम करना – ऐसों के अन्तर में भक्ति-भावना कभी उपज नहीं सकती, जैसे खारवाले खेत में कोई भी बीज उगता नहीं ।

मूरख संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली-सीप-भूवंग मुख, एक बूंद तिहँ भाइ ॥2॥

भावार्थ – मूर्ख का साथ कभी नहीं करना चाहिए, उससे कुछ भी फलित होने का नहीं। लोहे की नाव पर चढ़कर कौन पार जा सकता है? वर्षा की बूँद केले पर पड़ी, सीप में पड़ी और साँप के मुख में पड़ी – परिणाम अलग-अलग हुए- कपूर बन गया, मोती बना और विष बना।

माषी गुड़ में गड़ि रही, पंख रही लपटाइ।
ताली पीटे सिरि धुनें, मीठें बोई माइ ॥3॥

भावार्थ – मक्खी बेचारी गुड़ में धंस गई, फंस गई, पंख उसके चंप से लिपट गये। मिठाई के लालच में वह मर गई, हाथ मलती और सिर पीटती हुई।

ऊँचे कुल क्या जनमियां, जे करनी ऊँच न होइ।
सोवरन कलस सुरै भर्या, साधू निंदा सोइ ॥4॥

भावार्थ – ऊँचे कुल में जन्म लेने से क्या होता है, यदि करनी ऊँची न हुई? साधुजन सोने के उस कलश की निन्दा ही करते हैं, जिसमें कि मदरा भरी हो।

‘कबिरा’ खाई कोट की, पानी पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग से, तब गंगोदक होइ ॥5॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – किले को घेरे हुए खाई का पानी कोई नहीं पीता, कौन पियेगा वह गंदला पानी? पर जब वही पानी गंगा में जाकर मिल जाता है, तब वह गंगोदक बन जाता है, परम पवित्र!

‘कबीर’ तन पंषो भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥6॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – यह तन मानो पक्षी हो गया है, मन इसे चाहे जहाँ उड़ा ले जाता है। जिसे जैसी भी संगति मिलती है- संग और कुसंग – वह वैसा ही फल भोगता है। [मतलब यह कि मन ही अच्छी और बुरी संगति में ले जाकर वैसे ही फल देता है।]

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि र निकसणहार ॥7॥

भावार्थ – यह दुनिया तो काजल की कोठरी है, जो भी इसमें पैठा, उसे कुछ-न-कुछ कालिख लग ही जायगी। धन्य है उस प्रभु-भक्त को, जो इसमें पैठकर बिना कालिख लगे साफ निकल आता है।

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पास गयां ॥1॥

भावार्थ – संदेसा भेजते-भेजते मेरा अंदेशा जाने का नहीं, अन्तर की कसक दूर होने की नहीं, यह कि प्रियतम मिलेगा या नहीं, और कब मिलेगा; हाँ यह अंदेशा दूर हो सकता है दो तरह से – या तो हरि स्वयं आजायं, या मैं किसी तरह हरि के पास पहुँच जाऊँ

यह तन जालों मसि करों, लिखों राम का नाउं ।
लेखणिं करुं करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउं ॥2॥

भावार्थ – इस तन को जलाकर स्याही बना लूँगी, और जो कंकाल रह जायगा, उसकी लेखनी तैयार कर लूँगी ।
उससे प्रेम की पाती लिख-लिखकर अपने प्यारे राम को भेजती रहूँगी । ऐसे होंगे वे मेरे संदेसे ।

बिरह-भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
राम-बियोग ना जिबै जिवै तो बौरा होइ ॥3॥

भावार्थ – बिरह का यह भुजंग अंतर में बस रहा है, डसता ही रहता है सदा, कोई भी मंत्र काम नहीं देता । राम का वियोगी जीवित नहीं रहता, और जीवित रह भी जाय तो वह बावला हो जाता है ।

सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साई के चित्त ।4॥

भावार्थ – शरीर यह रबाब सरोद बन गया है - एक-एक नस तांत हो गयी है । और बजानेवाला कौन है इसका ?
वही विरह, इसे या तो वह साई सुनता है, या फिर बिरह में डूबा हुआ; यह चित्त ।

अंभड़ियां झाई पड़ीं, पंथ निहारि-निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ॥5॥

भावार्थ – बाट जोहते-जोहते आंखों में झाई पड़ गई हैं, राम को पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये हैं। [पुकार यह आर्त न होकर विरह के कारण तप्त हो गयी है..और इसीलिए जीभ पर छाले पड़ गये हैं]

इस तन का दीवा करौ, बाती मेल्युं जीव ।
लोही सींची तेल ज्युं, कब मुख देखौं पीव ॥6॥

भावार्थ – इस तन का दीया बना लूँ, जिसमें प्राणों की बत्ती हो ! और, तेल की जगह तिल-तिल बलता रहे रक्त का एक-एक कण । कितना अच्छा कि उस दीये में प्रियतम का मुखड़ा कभी दिखायी दे जाय ।

‘कबीर’ हँसणां दूर करि, करि रोवण सौं चित्त ।
बिन रोयां क्युं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥7॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – वह प्यारा मित्र बिन रोये कैसे किसीको मिल सकता है ? [रौने-रौने में अन्तर है ।
दुनिया को किसी चीज के लिए रौना, जो नहीं मिलती या मिलने पर खो जाती है, और राम के विरह का रौना, जो सुखदायक होता है।]

जौ रोऊं तौ बल घटे, हँसौं तो राम रिसाइ ।
मन ही माहिं बिसूरणा, ज्युं घुण काठहिं खाइ ॥8॥

भावार्थ – अगर रोता हूँ तो बल घट जाता है, विरह तब कैसे सहन होगा ? और हँसता हूँ तो मेरे राम रिसा जायंगे । तो न रोते बनता है और न हँसते। मन-ही-मन बिसूरना ही अच्छा, जिससे सबकुछ खौखला हो जाय, जैसे काठ घुन लग जाने से ।

हांसी खेलौं हरि मिलै, कोण सहै षरसान ।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, तोहि मिलै भगवान ॥9॥

भावार्थ – हँसी-खेल में ही हरि से मिलन हो जाय, तो कौन व्यथा की शान पर चढ़ना चाहेगा भगवान तो तभी मिलते हैं, जबकि काम, क्रोध और तृष्णा को त्याग दिया जाय ।

पूत पियारौ पिता कौं, गौंहनि लागो धाइ ।
लोभ-मिठाई हाथि दे, आपण गयो भुलाइ ॥10॥

भावार्थ – पिता का प्यारा पुत्र दौड़कर उसके पीछे लग गया । हाथ में लोभ की मिठाई देती पिता ने । उस मिठाई में ही रम गया उसका मन । अपने-आपको वह भूल गया, पिता का साथ छूट गया ।

परबति परबति में फिर्या, नैन गँवाये रोइ ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातें जीवनि होइ ॥11॥

भावार्थ – एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर मैं घूमता रहा, भटकता फिरा, रो-रोकर आँखे भी गवां दीं । वह संजीवन बूटी कहीं नहीं मिल रही, जिससे कि जीवन यह जीवन बन जाय, व्यर्थता बदल जाय सार्थकता में ।

सुखिया सब संसार है, खावै और सौवे ।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रावै ॥12॥

भावार्थ – सारा ही संसार सुखी दीख रहा है, अपने आपमें मस्त है वह, खूब खाता है और खूब सोता है । दुखिया तो यह कबीरदास है, जो आठों पहर जागता है और रोता ही रहता है । [धन्य है ऐसा जागना, ओर ऐसा रोना ! किस काम का, इसके आगे खूब खाना और खूब सोना!]

जा कारणि में दूँढती, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥13॥

भावार्थ – जीवात्मा कहती है – जिस कारण मैं उसे इतने दिनों से दूँढ रही थी, वह सहज ही मिल गया, सामने ही तो था । पर उसके पैरों को कैसे पकडूँ ? मैं तो मैली हूँ, और मेरा प्रियतम कितना उजला ! सो, संकोच हो रहा है ।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देखया माहिं ॥14॥

भावार्थ – जबतक यह मानता था कि 'मैं हूँ', तबतक मेरे सामने हरि नहीं थे । और अब हरि आ प्रगटे, तो मैं नहीं रहा । अँधेरा और उजला एकसाथ, एक ही समय, कैसे रह सकते हैं ? फिर वह दीपक तो अन्तर में ही था ।

देवल माहें देहुरी, तिल जे है बिसतार ।
माहें पाती माहिं जल, माहें पूजणहार ॥15॥

भावार्थ – मन्दिर के अन्दर ही देहरी है एक, विस्तार में तिल के मानिन्द । वहीं पर पत्ते और फूल चढ़ाने को रखे हैं, और पूजनेवाला भी तो वहीं पर हैं । [अन्तरात्मा में ही मंदिर है, वहीं पर देवता है, वहीं पूजा की सामग्री है और पुजारी भी वहीं मौजूद है ।]

‘कबीर’ भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाई ॥1॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – कलाल की भट्टी पर बहुत सारे आकर बैठ गये हैं पर इस मदिरा को एक वही पी सकेगा, जो अपना सिर कलाल को खुशी-खुशी सौंप देगा, नहीं तो पीना हो नहीं सकेगा । [कलाल है सद्गुरु, मदिरा है प्रभु का प्रेम-रस और सिर है अहंकार ।]

‘कबीर’ हरि-रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥2॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – हरि का प्रेम-रस ऐसा छककर पी लिया कि कोई और रस पीना बाकी नहीं रहा । कुम्हार का बनाया जो घड़ा पक गया, वह दोबारा उसके चाक पर नहीं चढ़ता । [मतलब यह कि सिद्ध हो जाने पर साधक पार कर जाता है जन्म और मरण के चक्र को।]

हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहुँ न जाइ खुमार ।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ॥3॥

भावार्थ – हरि का प्रेम-रस पी लिया, इसकी यही पहचान है कि वह नशा अब उतरने का नहीं, चढ़ा सो चढ़ा । अपनापन खोकर मस्ती में ऐसे घूमना कि शरीर का भी मान न रहे ।

सबै रसाइण में किया, हरि सा और न कोइ ।
तिल इक घट में संचरै, तौ सब तन कंचन होई ॥4॥

भावार्थ – सभी रसायनों का सेवन कर लिया मैंने, मगर हरि-रस-जैसी कोई और रसायन नहीं पायी । एक तिल भी घट में, शरीर में, यह पहुँच जाय, तो वह सारा ही कंचन में बदल जाता है । [मैल जल जाता है वासनाओं का, और जीवन अत्यंत निर्मल हो जाता है ।]

‘कबीर’ माया पापणी, फंध ले बैठी हाटि ।
सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीरा काटि ॥1॥

भावार्थ – यह पापिन माया फन्दा लेकर फँसाने को बाजार में आ बैठी है । बहुत सारों पर फन्दा डाल दिया है इसने । पर कबीर उसे काटकर साफ बाहर निकल आया हरि भक्त पर फन्दा डालनेवाली माया खुद ही फँस जाती है, और वह सहज ही उसे काट कर निकल आता है ।]

‘कबीर’ माया मोहनी, जैसी मीठी खांड ।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड ॥2॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – यह मोहिनी माया शक्कर-सी स्वाद में मीठी लगती है, मुझ पर भी यह मोहिनी डाल देती पर न डाल सकी । सतगुरु की कृपा ने बचा लिया, नहीं तो यह मुझे भांड बना-कर छोड़ती । जहाँ-तहाँ चाहे जिसकी चाटुकारी में करता फिरता ।

माया मुई न मन मुवा, मरि-मरि गया सरीर ।
आसा त्रिष्णां ना मुई, यों कहि गया ‘कबीर’ ॥3॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – न तो यह माया मरी और न मन ही मरा, शरीर ही बार-बार गिरते चले गये । मैं हाथ उठाकर कहता हूँ । न तो आशा का अंत हुआ और न तृष्णा का ही ।

‘कबीर’ सो धन संचिये, जो आगें कू होइ ।
सीस चढ़ावें पोटली, ले जात न देखया कोइ ॥4॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं, – उसी धन का संचय करो न, जो आगे काम दे । तुम्हारे इस धन में क्या रखा है ? गठरी सिर पर रखकर किसी को भी आज तक ले जाते नहीं देखा ।

त्रिसणा सींची ना बुझै, दिन दिन बधती जाइ ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ॥5॥

भावार्थ – कैसी आग है यह तृष्णा की ! ज्यों-ज्यों इसपर पानी डालो, बढ़ती ही जाती है । जवासे का पौधा भारी वर्षा होने पर भी कुम्हला तो जाता है, पर मरता नहीं, फिर हरा हो जाता है ।

कबीर जग की को कहै, भौजलि, बुड़ै दास ।
पारब्रह्म पति छाँड़ि करि, करै मानि की आस ॥6॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – दुनिया के लोगों की बात कौन कहे, भगवान के भक्त भी भवसागर में डूब जाते हैं । इसीलिए परब्रह्म स्वामी को छोड़कर वे दूसरों से मान-सम्मान पाने की आशा करते हैं ।

माया तजी तौ क्या भया, मानि तजी नहीं जाइ ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि को खाइ ॥7॥

भावार्थ – क्या हुआ जो माया को छोड़ दिया, मान-प्रतिष्ठा तो छोड़ी नहीं जा रही । बड़े-बड़े मुनियों को भी यह मान-सम्मान सहज ही निगल गया । यह सबको चबा जाता है, कोई इससे बचा नहीं ।

‘कबीर’ इस संसार का, झूठा माया मोह ।
जिहि घरि जिता बधावणा, तिहिं घरि तिता अंदोह ॥8॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – झूठा है संसार का सारा माया और मोह । सनातन नियम यह है कि – जिस घर में जितनी ही बधाइयाँ बजती हैं, उतनी ही विपदाएँ वहाँ आती हैं ।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ्या कलंक ।
और पखेरू पी गये , हंस न बोवे चंच ॥9॥

भावार्थ – बुगली ने चोंच डुबोकर सागर का पानी जूठा कर डाला ! सागर सारा ही कलंकित हो गया उससे । और दूसरे पक्षी तो उसे पी-पीकर उड़ गये, पर हंस ही ऐसा था, जिसने अपनी चोंच उसमें नहीं डुबोई ।

‘कबीर’ माया जिनि मिले, सौ बरियाँ दे बाँह ।
नारद से मुनियर मिले, किसो भरोसौ त्याँह ॥10॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – अरे भाई, यह माया तुम्हारे गले में बाहें डालकर भी सौ-सौ बार बुलाये, तो भी इससे मिलना-जुलना अच्छा नहीं । जबकि नारद-सरीखे मुनिवरों को यह समूचा ही निगल गई, तब इसका विश्वास क्या ?

‘कबीर’ मारूँ मन कूँ, टूक-टूक हवै जाइ ।
बिष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥1॥

भावार्थ – इस मन को मैं ऐसा मारूँगा कि वह टूक-टूक हो जाय । मन की ही करतूत है यह, जो जीवन की क्यारी में विष के बीज मैंने बो दिये, उन फलों को तब लेना ही होगा, चाहे कितना ही पछताया जाय ।

आसा का ईंधण करूँ, मनसा करूँ बिभूति ।
जोगी फेरि फिल करूँ, यों बिनना वो सूति ॥2॥

भावार्थ – आशा को जला देता हूँ ईंधन की तरह, और उस राख को तन पर रमाकर जोगी बन जाता हूँ । फिर जहाँ-जहाँ फेरी लगाता फिरूँगा, जो सूत इक्कड़ा कर लिया है उसे इसी तरह बुनूँगा । [मतलब यह कि आशाएँ सारी जलाकर खाक कर दूँगा और निस्पृह होकर जीवन का क्रम इसी ताने-बाने पर चलाऊँगा ।]

पाणी ही तै पातला, धुवां ही तै झीण ।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत ‘कबीर’ कीन्ह ॥3॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं कि ऐसे के साथ दोस्ती करली है मैंने जो पानी से भी पतला है और धुएँ से भी ज्यादा झीना है । पर वेग और चंचलता उसकी पवन से भी कहीं अधिक है । [पूरी तरह काबू में किया हुआ मन ही ऐसा दोस्त है ।]

‘कबीर’ तुरी पलाणियां, चाबक लीया हाथि ।
दिवस थकां सांई मिलौ, पीछै पड़िहै राति ॥4॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं -ऐसे घोड़े पर जीन कस ली है मैंने, और हाथ में ले लिया है चाबुक, कि सांझ पड़ने से पहले ही अपने स्वामी से जा मिलूँ । बाट में तो रात हो जायगी , और मंजिल तक नहीं पहुँच सकूँगा ।

मैमन्ता मन मारि रे, घट ही माहें घेरि ।
जबहिं चालै पीठि दे, अंकुस दै-दै फेरि ॥5॥

भावार्थ – मद-मत्त हाथी को, जो कि मन है, घर में ही घेरकर कुचल दो । अगर यह पीछे को पैर उठाये, तो अंकुश दे-देकर इसे मोड़ लो ।

कागद केरी नाव री, पाणी केरी गंग ।
कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग ॥6॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – नाव यह कागज की है, और गंगा में पानी-ही-पानी भरा है । फिर साथ पाँच कुसंगियों का है, कैसे पार जा सकूँगा ? [पाँच कुसंगियों से तात्पर्य है पाँच चंचल इन्द्रियों से ।]

मनह मनोरथ छाँड़ि दे, तेरा किया न होइ ।
पाणी में घीव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ ॥7॥

भावार्थ – अरे मन ! अपने मनोरथों को तू छोड़ दे, तेरा किया कुछ होने-जाने का नहीं । यदि पानी में से ही घी निकलने लगे, तो कौन रूखी रोटी खायगा ? [मतलब यह कि मन तो पानी की तरह है, और घी से तात्पर्य है आत्म-दर्शन ।]

‘कबीर’दुबिधा दूर करि, एक अंग हवै लागि ।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥1॥

भावार्थ – कबीर कहते हैं – इस दुविधा को तू दूर कर दे – कभी इधर की बात करता है, कभी उधर की । एक ही का हो जा । यह अत्यन्त शीतल है और वह अत्यन्त तप्त – आग दोनों ही हैं । [दोनों ही ‘अति’ को छोड़कर मध्य का मार्ग तू पकड़ ले ।]

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झुरि ।
सदा अनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्ले दूरि ॥2॥

भावार्थ – दुखिया भी मर रहा है, और सुखिया भी एक तो अति अधिक दुःख के कारण, और दूसरा अति अधिक सुख से । किन्तु राम के जन सदा ही आनंद में रहते हैं , क्योंकि उन्होंने सुख और दुःख दोनों को दूर कर दिया है ।